

वर्ष-69

अंक-10 ❖ अक्टूबर 2026 (कुल पृष्ठ-20) प्रति अंक : मूल्य ₹ 10/-

भारतीय भाषाओं की
समन्वय-संस्कृति का उद्गाता

गांधी-जयंती विशेषांक

मंगल प्रभात

पंचायत-राज

आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिये। हरएक गाँव में जमहूरी सल्तनत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब यह है कि हरएक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा—अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके।...

...जब पंचायत राज स्थापित हो जायेगा तब लोकमत ऐसे भी अनेक काम कर दिखायेगा, जो हिंसा कभी नहीं कर सकती। जमींदारों, पूँजीपतियों और राजाओं की मौजूदा सत्ता तभी तक चल सकती है, जब तक कि सामान्य जनता को अपनी शक्ति का भान नहीं होता। अगर लोग जमींदारी और पूँजीवाद की बुराई से सहयोग करना बन्द कर दें, तो वह पोषण के अभाव में खुद ही मर जायगी। पंचायत राज में केवल पंचायत की आज्ञा मानी जायगी और पंचायत अपने बनाये हुए कानून के द्वारा ही अपना कार्य करेगी।

हरिजन, 1-7-'47

—गांधीजी

गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा

1, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, सन्निधि, राजघाट, नई दिल्ली-110002

5-6 अक्तूबर, 2026

Postal R.No.DL(C)-01/1242/2024-26

मंगल प्रभात मासिक RNI-813/57

इस अंक में

1. स्वतंत्र भारत में पंचायतें	—गांधीजी	03
2. बापू के तीन चिर साथी	—काका कालेलकर	04
3. भारतीय संविधान और महात्मा गांधी	—प्रो. रमेश भारद्वाज	06
4. असमिया साहित्य के पुरस्कर्ता : श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा		12
5. काकासाहेब की शिष्य-सम्पदा—श्री आपा बी पंत		14
6. शिक्षा में मनुष्यता के खोजी काकासाहेब कालेलकर	—प्रो. (डॉ.) अजितसिंह राणा	16
7. पंचायती राज के क्रियान्वयन में — एसोसियेशन ऑफ वालंटरी एजेन्सीज फॉर रूरल डेवलपमेंट (अवार्ड), नई दिल्ली की भूमिका	—डॉ. बी. मिश्रा	कवर पृष्ठ 19
8. देश का भाषायी सर्वेक्षण भी होना चाहिए	—काका कालेलकर	कवर पृष्ठ 20

ई-मेल अथवा व्हाट्सएप द्वारा 'मंगल प्रभात' मंगवाने के लिए सम्पर्क करें—

ई-मेल : ghss.sannidhi@gmail.com • व्हाट्सएप नं. : 9911891104

मंगल प्रभात के प्रत्येक अंक का **e-paper** गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा की वेबसाइट www.ghsssannidhi.org पर उपलब्ध है।

'मंगल प्रभात' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। उनके साथ मंगल प्रभात के सम्पादक का या संस्था का सहमत होना जरूरी नहीं है।

सम्पादक	:	प्रो. रमेश भारद्वाज
सम्पादकीय सलाहकार	:	प्रो. अब्दुल अलीम, कृष्णा शर्मा एवं सावित्री भारद्वाज
वार्षिक चन्दा	:	₹ 100/- पंचवर्षीय : ₹ 500/-
एक प्रति	:	₹ 10/- दस वर्षों के लिए : ₹ 1000/-

स्वतंत्र भारत में पंचायतें

✍ गांधीजी

आजादी का अर्थ हिन्दुस्तान के आम लोगों की आजादी होना चाहिये, उन पर आज हुकूमत करनेवालों की आजादी नहीं। हाकिम आज जिन्हें अपने पाँव तले रौंद रहे हैं, आजाद हिन्दुस्तान में उन्हीं लोगों की मेहरबानी पर हाकिमों को रहना होगा। उनको लोगों के सेवक बनना होगा और उनकी मरजी के मुताबिक काम करना होगा।

आजादी नीचे से शुरू होनी चाहिये। हर एक गाँव में जमहूरी सल्तनत या पंचायत का राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। जिसका मतलब यह है कि हर एक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा—अपनी जरूरतें खुद पूरी कर लेनी होंगी, ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके। यहाँ तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी हिफाजत खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के मुकाबले में अपनी रक्षा करते हुए मर-मिटने के लायक बन जाये। इस तरह आखिर हमारी बुनियाद व्यक्ति पर होगी। इसका यह मतलब नहीं कि पड़ोसियों पर या दुनिया पर भरोसा न रखा जाये; या उनकी राजी खुशी से दी हुई मदद न ली जाये। ख्याल यह है कि सब आजाद होंगे और सब एक-दूसरे पर अपना असर डाल सकेंगे। जिस समाज का हर एक आदमी यह जानता है कि उसे क्या चाहिये और इससे भी बढ़कर जिसमें यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती है, वह खुद भी किसी को नहीं लेनी चाहिये, वह समाज जरूर ही बहुत ऊँचे दर्जे की सभ्यता वाला होना चाहिये।

ऐसे समाज की रचना स्वभावतः सत्य और अहिंसा पर ही हो सकती है। मेरी राय है कि जब तक ईश्वर पर जीता-जागता विश्वास न हो, सत्य और अहिंसा

पर चलना नामुमकिन है। ईश्वर या खुदा वह जिन्दा ताकत है, जिसमें दुनिया की तमाम ताकतें समा जाती हैं। वह किसी का सहारा नहीं लेती और दुनिया की दूसरी सब ताकतों के खत्म हो जाने पर भी कायम रहती है। इस जीती-जागती रोशनी पर, जिसने अपने दामन में सब कुछ लपेट रखा है, मैं विश्वास न रखूँ, तो मैं समझ न सकूँगा कि मैं आज किस तरह जिन्दा हूँ।

ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। जिन्दगी मीनार की शक्ल में नहीं होगी, जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना पड़ता है। वहाँ तो समुद्र की लहरों की तरह जिन्दगी एक के बाद एक घेरे की शक्ल में होगी और व्यक्ति उसका मध्यबिन्दु होगा। यह व्यक्ति हमेशा अपने गाँव के खातिर मिटने को तैयार रहेगा। गाँव अपने इर्द-गिर्द के गाँवों के लिये मिटने को तैयार होगा। इस तरह आखिर सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो उद्धत बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते, बल्कि हमेशा नम्र रहते हैं, और अपने में समुद्र की उस शान को महसूस करते हैं, जिसके वे एक जरूरी अंग हैं।

इसलिए सबसे बाहर का घेरा या दायरा अपनी ताकत का इस्तेमाल भीतर वालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि उन सबको ताकत देगा और उनसे ताकत पायेगा। मुझे ताना दिया जा सकता है कि यह सब तो ख्याली तस्वीर है, जिसके बारे में सोचकर वक्त क्यों बिगाड़ा जाये? युक्लिडकी परिभाषावाला बिन्दु कोई इन्सान खींच नहीं सकता, फिर भी उसकी कीमत हमेशा रही है और रहेगी। इसी तरह मेरी इस तस्वीर की भी कीमत है। इसके लिए इन्सान जिन्दा रह सकता है।

शेष भाग पृष्ठ संख्या 18 पर

बापू के तीन चिर साथी

काका कालेलकर

मैं कई बार कह चुका हूँ कि तीन ऐसे व्यक्ति थे जो बापू के जीवन में तन-मन-प्राण से ओत-प्रोत हो गये थे और मरते दम तक उनसे एक रस बने रहे। उनका आत्मसमर्पण बिल्कुल अनुपम था।



कस्तूरबा गांधी

कस्तूरबा, बापू जी की करीब करीब अनपढ़ सह-धर्मिणी, शुरू से आखिर तक बापू के सारे प्रयत्नों, पुरुषार्थों व मानसिक संघर्षों की साक्षी, और उनके जीवन-शुद्धि की जद्दोजहद में सहकारिणी रहीं। हम सब, जिन्होंने इस

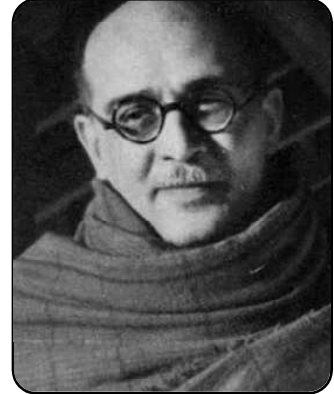
दम्पती को उनकी जीवन-यात्रा की आखिरी मंजिल में देखा सो उनके आपसी प्रेम व ऐक्य से सदा प्रभावित होते रहे, जो बरसों के आत्मैक्य व वफादार मैत्री का मीठा फल था। एक बार दोनों की आँखों में पवित्र और उन्नत दाम्पत्य प्रेम की झलक देख पाने का सौभाग्य मुझे हासिल हुआ था, और मैं कृतकृत्य हुआ। यह भाव सम्पूर्ण प्रेम और निष्ठा का सूचक था। कस्तूरबा के अखंड आत्म समर्पण उनके विशुद्ध स्वार्थत्याग और तपस्या का गुप्त कारण यही नैष्ठिक प्रेम था।

: 2 :

बापू के दूसरे जीवन-संगी व सहसाधक महादेवभाई देसाई थे। गोधरा में बापू व महादेवभाई की पहली मुलाकात, व उनके स्वीकार का मैं साक्षी था। 'तारामैत्रक' का उत्तम नमूना इस प्रसंग में मुझे मिल गया। महादेव को देखते ही बापू ने पहचान

लिया—“यह तो वही है, जिसकी मैं राह देखता बैठा था।”

उनके सहकार्य के शुरू के दिनों में भी महादेव ने बापू के दिल में ऐसा घर कर लिया कि एक बार तेज बुखार के सन्निपात में बापू महादेव का ही नाम पुकारते रहे! महादेव को कहते रहे कि समाज की अमुक खराबियों के सामने बलिदान पूर्ण सत्याग्रह चलाने में तुम मेरा साथ दो।



महादेव भाई

मुझे यह भी याद है कि एक बार, जब महादेव सख्त बीमार थे, और नरहरिभाई और मैं उनकी तीमारदारी कर रहे थे, तो महादेवभाई बार-बार अस्पष्ट उच्चारण से कहते रहे, “मेरी दो पत्नियाँ हैं, एक दुर्गा, दूसरे बापू। मैं दोनों से समान वफादार रहूँगा।”

पूरे बीस साल (या ज्यादा) महादेव चौबीसों घंटे बापू की अनन्य सेवा करते रहे। शुरू के सालों में बापू के कपड़े धोना, उनका कमोड़ साफ करना, उनके सारे खत लिखना महादेव ही का काम था। जरूरत पड़ने पर वे बापू की तरफ से उच्चतम सरकारी अमलदारों व सर्वश्रेष्ठ देश नेताओं के साथ 'विष्टि' (negotiations) करते थे।

एक बार पंडित मोतीलाल नेहरू जी ने लालच में आकर बापू से महादेवभाई की मांग की। बंगाल के नेता श्री चित्तरंजन दास ने भी अपने काम में महादेवभाई की मदद मांगी थी। बापू ने दोनों की अर्जी

क़बूल रखी, शायद यह सोचकर कि इन दो महान व उदात्त नेताओं के साथ काम करना महादेव के हक् में अच्छा होगा।

मगर महादेव का विचार कुछ और था। हर बार वे चंद ही महीनों में वापस भाग आये। जैसे कि उन्होंने एक बार मुझे बताया था, बापू उनके प्राण थे। एक मिसाल से यह साबित हो जायेगा। एक बार ग्रीष्मऋतु में बापू व महादेव सेवाग्राम में ही रहे। गर्मी की शिद्दत से महादेवभाई को सख्त रक्त दाब हो आया। बापू ने हुकम दिया, “कहीं ठण्डी जगह चले जाओ।” आज्ञापालक महादेव सफर पर चल निकले। लेकिन वर्धा के स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते ही उन्हें सख्त चक्कर का दौरा आ गया। उन्होंने फौरन मोटर घुमाई और वापस सेवाग्राम लौट आये। वहाँ पहुँचते ही वे सीधा बापू के पास गये, और उनके चरणों पर माथा रखकर बोले, “मरते समय मुझे आपकी नजदीकी चाहिए।”

चन्द ही साल बाद भगवान ने उनकी यह ख्वाहिश पूरी की। पूना के आगा खां महल में बापू का काम करते-करते महादेव ने अपनी देह त्यागी।

स्वराज्य आन्दोलन के रोमांचक जमाने में महादेव ‘यंग इंडिया’ और ‘हरिजन’ में बराबर, और कई सालों तक, साप्ताहिक पत्र लिखते रहे, जिनमें बापू जी की उस वक्त की कार्रवाईयों का सजीव और ज्वलंत बयान मिल जाता है। हरएक की अपेक्षा थी कि महादेव बापू जी की सम्पूर्ण और प्रमाणभूत जीवनी लिखेंगे। उनकी सविस्तार और बारीकियों से भरी हुई रोजनिशी, जो इस वक्त सम्पादित होकर छप रही हैं, बताती हैं कि लेखक अपने को अपने इस महान् कार्य के लिए किस तरह साध रहे थे। अगर भगवान ने महादेव को कौशल्य के साथ फुर्सत भी प्रदान की होती, तो यकीनन वे साहित्य के मैदान में महाबली का दर्जा हासिल कर लेते। लोगों के और घटनाओं के शब्दचित्र उन्होंने बड़ी खूबी के साथ खींचे हैं, और उनकी चलती लेखनी एक निहायत सूक्ष्म वेदी और ऊर्ध्वगामी आत्मा के दर्शन

कराती है। उस जमाने की हर जिंदा और उदात्त चीज को महादेव की कृतियों में स्थान मिलता रहा।

: 3 :

बापू के तीसरे आत्मसंगी श्री जमनालाल जी बजाज थे, जो अपनी जवानी ही में बापू के जीवन में प्रविष्ट हुए। इस तेजस्वी युवक में देशभक्ति और अध्यात्म-प्रेम कुछ अजीब तरीके से मिले हुए थे।



जमनालाल बजाज

जमनालाल बजाज में उस वक्त भी व्यापारी वर्ग के नेता बनने की लियाकत दिखाई दे रही थी। व्यापारी सूझ-बूझ और व्यवहार-कौशल में वे किसी से कम न थे। उन्होंने बापूजी से याचना की, “आप मुझे अपना पाँचवाँ पुत्र मान लीजिये।” अपनी दौलत ही क्या, उन्होंने अपना सारा खानदान ही बापू और स्वराज्य की खिदमत में अर्पण कर दिया। बापू की कोई भी रचनात्मक प्रवृत्ति न थी जिसमें जमनालाल जी का सक्रिय सहकार न हो। बल्कि यही कहना चाहिए कि बापू की अनेकानेक रचनात्मक प्रवृत्तियों के व्यवहारू चालक जमनालाल जी ही थे। बापूजी को हमेशा लगा, और वे हमेशा कहते रहे कि जमनालाल जी के सिवा इन असंख्य प्रवृत्तियों का भार दूसरा कोई न उठा सकेगा। जमनालाल जी कांग्रेस के खजांची, और कार्यवाही समिति के सक्रिय सदस्य थे। वे कई बार स्वेच्छा से जेल गए और वहाँ उन्होंने हर बार अपना लोहा बड़े ज्वलंत तरीके से बता दिया; एक वीर-नर और एक सच्चे साधक के नाते।

बापू के व्यक्तित्व के इन तीन अंगों की उपेक्षा करके बापू की कोई जीवन-कथा (लिखित या चित्रित) सफल या सम्पूर्ण नहीं गिनी जा सकती।

□

भारतीय संविधान और महात्मा गांधी

प्रो. रमेश भारद्वाज

सदियों के संघर्ष के बाद भारत एक स्वतंत्र संवैधानिक राज्य के रूप में स्थापित हुआ, किंतु राष्ट्र का यह संविधान स्वतंत्रता आंदोलन की प्रेरक शक्तियों के सपनों को साकार न कर सका। विशेष रूप से महात्मा गांधी के सपनों के भारत का वह प्रतिगामी ही रहा। मगर यह भी सत्य है कि संविधान के मौलिक चरित्र पर गांधी विचार का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। 1931 का कराची कांग्रेस अधिवेशन भारतीय संविधान के निर्माण की प्रक्रिया में मील का पत्थर बना। जिसमें संविधान सभा, संविधान का स्वरूप, नागरिकों के मौलिक अधिकार, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा एवं ग्रामीण जनता की आर्थिक उन्नति जैसे विषयों पर प्रस्ताव पारित किए गए। मौजूदा संविधान में पारित मौलिक अधिकारों एवं अल्पसंख्यकों की सुरक्षा गारंटी जैसे विषय कराची कांग्रेस के प्रस्तावों जैसे ही हैं। इसके अलावा बंधुआ मुक्ति, महिलाओं की संरक्षा, मजदूर यूनियन बनाने का अधिकार, बाल मजदूरी अपराध एवं वयस्क मतदान जैसे विषय भी वहीं से लिये गए हैं। अमानवीय अछूत समस्या के समाधान संबंधी संवैधानिक प्रावधान भी गांधीजी की दृष्टि को संविधान में दर्शाते हैं।

किंतु संविधान निर्माताओं ने ग्राम को राज्य की मूल इकाई मानने की संवैधानिक स्थिति वाले गांधीजी के आग्रह की न केवल अवहेलना की, बल्कि उनके इस विचार पर संविधान सभा में विचार तक नहीं किया। 'ग्राम स्वराज' के सिद्धांत पर राष्ट्र के पुनर्निर्माण वाले गांधी विचार को भारतीय संविधान में स्थान क्यों नहीं मिला, यह विषय विचारणीय है।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सर्वोच्च नेता गांधीजी प्रारंभ से ही भारतीय समाज के भविष्य के

दिशा-निर्देशक, संविधान के निर्माता के रूप में ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप नहीं चाहते थे। उनके अनुसार केवल भारतीय जनता के द्वारा प्रत्यक्ष चुने गए प्रतिनिधियों वाली संविधान सभा होनी चाहिए। उनकी इच्छा के अनुसार सदस्य तो भारतीय बने, मगर ब्रिटिश कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार उन्हें प्रांतीय असेंबलियों से परोक्ष रूप से चुना गया। प्रांतीय धारासभाएँ भी ब्रिटिश संसद् से पारित भारत शासन ऐक्ट 1935 के अंतर्गत निर्वाचित थीं, जो कुल भारतीय समाज के 11 प्रतिशत लोगों के मत से चुनी गई थीं, अर्थात् हमारा संविधान ब्रिटिश भारत के संभ्रांत तथा समर्थ लोगों के समूह द्वारा तैयार किया गया।

प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था। उस आंदोलन के सर्वोच्च नायक के रूप में गांधीजी स्पष्ट रूप से देख पा रहे थे कि इन युद्धों का मूल कारण पश्चिमी सभ्यता की सोच है, जिसमें जनतंत्र के नाम से पूँजीवादी ताकतें फासिस्ट बन जाती हैं। जहाँ संकीर्ण राष्ट्रवाद के नारों के साथ मानव की सर्वांगीण समृद्धि की संभावना कुंद कर दी जाती है। यह फासिस्ट पूँजीवाद प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जनतंत्र के चारों आधारों—विधायिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका और मीडिया, को अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बना डालता है।

यदि आज पश्चिमी सभ्यता के आधार पर खड़ी भारतीय राज्य-व्यवस्था के विगत सात दशकों के इतिहास पर दृष्टि डालें तो उपर्युक्त दृश्य ही दृष्टिगोचर होता है। देश ने आजादी के बाद समाजवाद के नारे के साथ पश्चिम की संसदीय राज्य-व्यवस्था

और साम्यवादी आदर्श का मिश्रण अपनाया। जो आज फासिस्ट पूँजीवाद से कॉरपोरेट पूँजीवाद की शकल में अंतरराष्ट्रीयता दिखलाता है। जिसका उद्देश्य केवल मुनाफा कमाना है। जो मानव को बस बाजार में उपभोक्ता के रूप में स्थापित देखना चाहता है। उसी का परिणाम है— अमीरों का और अमीर होना, गरीबों का और गरीब होना।

महात्मा गांधी ने 1908 में लिखी अपनी पुस्तक 'हिंद स्वराज' में पश्चिमी सभ्यता के इस राक्षसी रूप का चित्रण किया है। उनके शब्दों में, "भारत का भविष्य पश्चिम के उस रक्तरंजित मार्ग पर नहीं है। उसका भविष्य तो सरल धार्मिक जीवन द्वारा शांति के अहिंसक रास्ते पर चलने में ही है। भारत के सामने इस समय अपनी आत्मा को खोने का खतरा उपस्थित है।"

'भारत की आत्मा' का स्वरूप क्या है ? उसके चिरंतन आधारभूत तत्त्व क्या हैं? वो कौन से घटक तत्त्व हैं, जिनके कारण यह भारतीय समाज विगत हजारों-लाखों वर्षों से सातत्यपूर्ण गति से निरंतर स्पंदित होता रहा है। गांधीजी ने भारत का साक्षात्कार अध्यात्म प्रधान समाज के रूप में किया। जिसने पिछली सहस्राब्दियों की यात्रा में मानव के सर्वविध कल्याण के चिंतन की पराकाष्ठा को प्राप्त किया। जिसके आधारभूत तत्त्व सत्य और अहिंसा हैं। इसलिए जब गांधीजी अपने दर्शन में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका अर्थ 'इंडिपेंडेंस' = मर्यादाओं से मुक्त निरंकुश आजादी नहीं मानते, अपितु वैदिक 'स्वराज' शब्द का भारतीय सांस्कृतिक अर्थ करते हैं—"स्वराज्य से मेरा अभिप्राय है, लोकसम्मति के अनुसार होने वाला भारतवर्ष का शासन। सच्चा स्वराज्य कुछ लोगों के द्वारा सत्ता प्राप्त कर लेने से नहीं, बल्कि जब सत्ता का दुरुपयोग होता हो, तब सब लोगों के द्वारा उसका प्रतिकार करने की क्षमता प्राप्त करके हासिल किया

जा सकता है।"²

"मेरा स्वराज्य तो हमारी सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखना है।"³ गांधीजी केवल राजनीतिक स्वराज्य के पैरोकार ही नहीं थे। वे सामाजिक, आर्थिक आदि सभी विषयों में भारतीय परंपरा से प्राप्त विकेंद्रित व्यवस्था के पक्षधर थे, इसलिए भविष्य के भारत के संविधान में भारत की आत्मा की झलक चाहते थे। उनके अनुसार, "मैं ऐसे संविधान की रचना करवाने का प्रयत्न करूँगा, जो भारत को हर तरह की गुलामी और परावलंबन मुक्त कर दे। मैं ऐसे भारत के लिए कोशिश करूँगा, जिसमें गरीब-से- गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है, जिसके निर्माण में उनकी आवाज का महत्त्व है।"

जब देश की आजादी का मार्ग प्रशस्त हो रहा था और भविष्य के भारत की किस्मत लिखने की सुगबुगाहट थी, उसे भापकर गांधीजी के विचारों के आधार पर गांधीजी के अनुयायी श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने जनवरी 1946 में एक पुस्तक लिखी, जिसका शीर्षक था—'मुक्त भारत में गांधी-विचार का संविधान' (Gandhian Constitution for Free India)। उस ग्रंथ के पुरोवाक् में स्वयं गांधीजी ने लिखा—"मेरे लेखन के आधार पर प्रिंसिपल अग्रवाल ने यह लिखा है। वह पिछले कई वर्षों से मेरे विचारों की व्याख्या करते आ रहे हैं। मेरी दृष्टि में संविधान कैसा होना चाहिए, उसका मोटे तौर पर इस पुस्तिका में विस्तार किया गया है।"

गांधीजी का विचार भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण की वकालत करता है। इसलिए गांधीजी की दृष्टि में भारतीय संविधान का विषय केवल राजनीति शास्त्र का विषय नहीं है, जैसा कि वह पश्चिमी देशों में विकसित हुआ है। स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व करते हुए उन्होंने हमेशा भारतीय संस्कृति और सभ्यता की महत्ता को रेखांकित किया। उनके

अनुसार भारत में कोई भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवर्तन करते हुए भारतीय परंपराओं की अवहेलना नहीं की जा सकती।

श्रीमन्नारायण गांधीजी की इसी भावना को अभिव्यक्ति देते हुए भूमिका में लिखते हैं—“स्वाभाविक प्रश्न उठता है—स्वतंत्र भारत का संविधान कैसा हो? क्या हम स्विट्जरलैंड, अमरीका या रशिया के पश्चिमी संविधानों की प्रतिकृति बना लें अथवा हम राष्ट्रीय प्रतिभा, संस्कृति और परंपराओं के आधार पर स्वदेशी संविधान का निर्माण करें?

भारत एक अति प्राचीन देश है। जिसका संवैधानिक विकास का अतीत बताता है कि ईसा के बहुत पहले इस देश ने सभी प्रकार की संभावित राजनीतिक विधियों का आविष्कार कर लिया था। जब यूरोप और नई दुनिया ने सभ्यता के दर्शन भी नहीं किए थे, उस समय भारत ने राजतंत्र, जनतंत्र, गणतंत्र आदि के प्रयोग कर लिये थे।

मुझे गलत मत समझिए। मैं संकुचित राष्ट्रवाद का समर्थक नहीं हूँ, जो दूसरे देशों के अनुभवों और विकास को नजरअंदाज करना चाहता है, मगर यह उपयुक्त समय है, समझने के लिए। हीन भावना का त्याग होना चाहिए। पश्चिम की ओर देखने की प्रवृत्ति को त्यागकर हमें अपने अंदर देखने की प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए। पश्चिम की ओर बहुत देख लिया। अब भारतीय संस्कृति और उसकी संस्थाओं के प्रति सही दृष्टि से गौरव अनुभव कीजिए।”

श्रीमन्नारायण ने अपने कथ्य के समर्थन में न केवल के.पी. जायसवाल, मुखर्जी, मजूमदार जैसे भारतीय विद्वानों के प्राचीन भारत के राजनीतिशास्त्र संबंधी शोधग्रंथों को उद्धृत किया, अपितु अनेक विदेशी विद्वानों के मतों को भी प्रस्तुत किया; जिनके अनुसार किसी भी देश का संविधान आयातित वस्तु नहीं हो सकती।

श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने गांधी विचार के आलोक में जिस संविधान की दिशा निर्दिष्ट की, उसके मुख्य बिंदु इस प्रकार से थे—

अहिंसा

गांधी के अनुसार जनतंत्र वही है, जिसमें कमजोर से कमजोर व्यक्ति को वह सब मिले, जो बलवत्तम को सुलभ है। यह हिंसा के माध्यम से असंभव है।

आज के पाश्चात्य जनतंत्र की कार्यप्रणाली उसे नाजीवाद और फासीवाद की ओर ले जाती है। अतः जनतंत्र और हिंसा एक साथ नहीं रह सकते। अगर उन्हें जनतांत्रिक बनना है तो अहिंसा का स्वीकार करना होगा। अर्थात् जनतंत्र के विकास के लिए महत्वपूर्ण है—अहिंसा के सिद्धांत को अपनाना।

विकेंद्रीकरण

अहिंसा आधारित जनतंत्र के लिए सबसे जरूरी है—विकेंद्रीकरण। गांधीजी आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण के लिए स्वावलंबी एवं स्वशासित ग्राम को राज्य-व्यवस्था की प्रथम इकाई मानते थे। भारतीय समाज की नैरंतर्यपूर्ण स्थिति का आधार था, उसका ‘ग्राम स्वराज्य’ पर आधारित होना। ऐसा नहीं था, गांधीजी केवल पुराने जमाने के गाँवों की पुनः स्थापना चाहते थे, बल्कि उनमें आधुनिक परिस्थितियों से उपजी आवश्यकताओं के आलोक में गाँवों का पुनरुद्धार चाहते थे।

भारतीय ग्रामीण गणतंत्र

श्रीमन्नारायण वेदों, मनुस्मृति, महाभारत, रामायण, अर्थशास्त्र आदि प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों के आधार पर कहते हैं कि प्राचीनकाल से ही भारत ‘ग्राम-गणराज्य’ का देश रहा है। अर्थात् वैदिक काल से ‘ग्राम’ शासन की मूल इकाई रहा है, जो ईस्ट इंडिया कंपनी के आने तक बरकरार रहा है। अंग्रेजों

के शासन में बिगड़ी इस संस्कृतिमूलक राजनीतिक परंपरा का नई व्यवस्था संविधान में पुनरुद्धार होना चाहिए।

विकेंद्रित अर्थव्यवस्था

संविधान के निर्माण में भूमिका निभाने वाले पाश्चात्य दृष्टि के बुद्धिजीवी पूँजीवाद और साम्यवाद के साम्राज्यवादी विचारों से आक्रांत थे। गांधीजी उन्हें भारतीय परंपरा में विकसित ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग एवं लघु उद्योगों की अर्थनीति को अपनाने की सलाह देते हैं, जिससे विकेंद्रित अर्थव्यवस्था सभी हाथों को रोजगार और शोषणमुक्त होने की गारंटी दे सके।

विकेंद्रीकरण का दर्शन

गांधीजी केवल आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से विकेंद्रीकरण की वकालत नहीं करते, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन-दर्शन को पुनःस्थापित करना चाहते हैं। चूँकि शरीर और बुद्धि के मध्य तारतम्य के लिए 'शरीर श्रम' आवश्यक है, अतः वह विकेंद्रीकरण का मौलिक तत्त्व है।

गांधीजी ग्रामाधारित विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे, जो कि शोषणमुक्त सहकारिता का सहज प्रकटीकरण है।

सामाजिकता की दृष्टि

विकेंद्रित ग्रामव्यवस्था में स्वच्छ वायु उपलब्ध है, जो कि शहरी भीड़भाड़ से उपजी बीमारियों से बचाएगी, अर्थात् राष्ट्र के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ग्रामाधारित व्यवस्था को अपनाना चाहिए, क्योंकि इसी में सामाजिक समरसता और सुरक्षा की गारंटी मिल सकती है।

जीवन का आनंद, कला एवं सौंदर्य

गाँवों में प्राचीन परंपराएँ आज भी जीवित हैं। अपनी लोक परंपरा में समाज अधिक आनंद ले सकेगा।

भारतीय परंपरा में 'कला कला के लिए' नहीं है, अपितु 'कला जीवन के लिए' उद्दिष्ट है।

राष्ट्रीय सुरक्षा

विकेंद्रीकरण एवं ग्रामीकरण की व्यवस्था न केवल विदेशी आक्रांताओं से बचाती है, बल्कि आधुनिक युद्धों की प्रकृति से भी दूर रखती है। मानव को जीने के लिए आवश्यक रोटी, कपड़ा, स्थानीय स्तर पर उपलब्ध होने पर वह दूर के बाजारों पर निर्भर नहीं होगा और इससे संकटकाल में जनता को कष्ट नहीं होगा।

अंतरराष्ट्रीय समन्वय

दुनिया में सभी युद्धों का मूल कारण है—आर्थिक शोषण और विश्व के बाजार पर कब्जे की प्रवृत्ति। कुटीर उद्योगों पर आधारित अर्थव्यवस्था साम्राज्यवादी लालची सोच की विनाशक है, अतः सैनिक निरस्त्रीकरण के साथ आर्थिक निरस्त्रीकरण भी आवश्यक है। जो युद्धों की संभाव्यता को समाप्त कर अंतरराष्ट्रीय सद्भाव कायम करेगा।

अंतरराष्ट्रीय बनाम सार्वभौमिकता

श्रीमन्नारायण के अनुसार, गांधी का 'ग्राम-स्वराज्य' अंतरराष्ट्रीयवाद से बढ़कर सार्वभौमिकता की ओर मानव को ले जाना चाहता है। भारतीय परंपरा मानव को सृष्टि के चराचर जगत् के साथ एकाकार होकर जीने की दृष्टि देती है। गांधीजी इसी परंपरा के संवाहक बनकर कहते हैं कि हमारी सांसारिक स्थिति ग्राम में है और सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से संपूर्ण सृष्टि

हमारा घर है। इसलिए मैं स्वयं को सृष्टि के चराचर जगत् के साथ एकाकार पाता हूँ।

एक नई सभ्यता

वस्तुतः गांधीजी का 'ग्राम-स्वराज्य' मध्यकाल की पुनरावृत्ति नहीं है, बल्कि एक 'नई सभ्यता' का उदय है। जो काल्पनिक नहीं, व्यावहारिक है।

इसके अगले भाग में श्रीमनजी मूलभूत अधिकारों तथा कर्तव्यों की चर्चा करते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आज के भारतीय संविधान के इस विषय में जो प्रावधान हैं, वे लगभग वही हैं, जो कराची कांग्रेस में उन्होंने नेहरूजी के साथ मिलकर निर्धारित किए थे। भारतीय संविधान के निर्धारण में जो कुछ गांधी सम्मत तत्त्व हैं, उनमें यह महत्वपूर्ण है।

पुस्तक के छठे अध्याय में ग्राम को मूल इकाई मानकर जो गांधीप्रणीत पंचस्तरीय राज्य-दर्शन का निरूपण है। जिसके मुख्य बिंदु हैं—

(क) ग्राम पंचायत

1. गाँव के सभी वयस्क कम-से-कम पाँच पंचों का चुनाव करेंगे। वे अपना सरपंच चुनेंगे। असहमति होने पर सभी वयस्क मतदाता सीधे चुनाव द्वारा उनमें से किसी एक को सरपंच चुनेंगे। अविश्वास की स्थिति में 75 प्रतिशत वोटों से उन्हें हटाया जा सकता है।

2. गाँव के सभी विषयों—सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक में ग्राम पंचायत संप्रभु होगी। जिसके मुख्य कार्य होंगे—शिक्षा, मनोरंजन, संरक्षा, कृषि, उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्यिक, स्वच्छता एवं स्वास्थ्य, न्याय, अर्थव्यवस्था एवं कर व्यवस्था।

(ख) तालुका पंचायत

तहसील के अंतर्गत सभी गाँवों के सरपंच तालुका पंचायत के सदस्य होंगे और उन्हीं में से एक प्रधान बनेगा। तालुका पंचायत की शर्तें वही

होंगी, जो ग्राम पंचायत के लिए हैं। जिसकी भूमिका होगी—

1. ग्राम पंचायतों के कार्यों में मार्गदर्शन, सहयोग एवं उनके खाते ऑडिट करना,
2. माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था करना,
3. बड़े अस्पताल और प्रसूतिगृहों का संचालन
4. तालुका सहकारी बैंक और मार्किटों का प्रबंधन इत्यादि।

(ग) जिला पंचायत

तालुका पंचायत के सभी प्रधान मिलकर जिला पंचायत के सदस्य होंगे, जो सदस्यों में से किसी एक को प्रमुख चुनेंगे। तालुका पंचायत के उपर्युक्त कार्यों का जिला स्तर पर संपादन इनका कार्य होगा। विशेषतः कॉलेज स्तरीय शिक्षा वह देखेगी।

शहरी नगरपालिका

शहरों के लिए जिला पंचायत जैसा नगरपालिकाओं का गठन।

(घ) राज्यस्तरीय शासन

जिला पंचायत तथा नगरपालिकाओं के अध्यक्ष राज्य स्तरीय पंचायत के सदस्य होंगे।

(ङ) केंद्रीय शासन

राज्यस्तरीय पंचायतों के अध्यक्ष अखिल भारतीय पंचायत का गठन करेंगे।

उपर्युक्त गांधीसम्मत पंचायत-राज का विधिसम्मत सफल प्रयोग स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व किस प्रकार सम्पन्न हुआ, वह संक्षेप में प्रस्तुत है—

ओंध राज्य में गांधी सम्मत संविधान का प्रयोग

गांधीजी के सपनों के जिस संविधान को श्रीमन्नारायण ने 1946 में लेखनीबद्ध किया, वह काल्पनिक नहीं था। इसके व्यावहारिक पक्ष का प्रयोग 1938 में महाराष्ट्र के ओंध राज्य में हो चुका

था। 72 गाँवों के इस छोटे से राज्य के राजा भगवानराव पंतप्रतिनिधि ने 1938 में जनता के साथ जनतांत्रिक व्यवस्था का करार किया। इसके एक महीने बाद उन्होंने वर्धा में गांधीजी से मुलाकात कर अपना निर्णय बताया। गांधीजी ने उनके राज्य के भावी संविधान का मसौदा तैयार भी किया। गांधीजी के शब्दों में—“ ओंध के राजा ने जनता की आवश्यकता और उनकी सामाजिक उन्नति को समझा। वहाँ जनता के मौलिक अधिकार सुनिश्चित होने चाहिए, अर्थात् कानून की दृष्टि में सभी एक समान, अछूत (अस्पर्श भावना) उन्मूलन और बोलने की आजादी। मुझे आशा है, अन्य राजा भी इस आदर्श का अनुकरण करेंगे।

ओंध राज्य के संविधान की अनुसूची में—जनता में नैतिकता तथा अहिंसा, जीने का अधिकार, बोलने की आजादी, शांतिपूर्ण तरीके से एकत्रित होने का अधिकार, पूजा का अधिकार, कानून के लिए सब एक समान, बेसिक फ्री शिक्षा का अधिकार, रोजगार की गारंटी एवं न्यूनतम मजदूरी का अधिकार मौलिक अधिकारों में शामिल थे।

प्रत्येक ग्राम में एक ग्राम पंचायत होगी, जिसमें प्रत्यक्ष रूप से सरपंच का निर्वाचन होगा। शिक्षा व्यवस्था, समाज कल्याण, चरागाह व बाजार की व्यवस्था, पानी आपूर्ति, सेनिटेशन, रोड, सार्वजनिक स्थानों का रखरखाव जैसे सभी विषय पंचायत देखेगी। राज्य चार तालुकों में विभक्त होगा और ग्राम सरपंच तालुका पंचायत के सदस्य होंगे। चार तालुकों के प्रधान के तथा प्रत्येक तालुका से अन्य दो निर्वाचित सदस्य राज्य विधात्री सभा के सदस्य होंगे। विधात्री सभा कभी समाप्त नहीं होगी, बल्कि प्रत्येक वर्ष एक-तिहाई सदस्य निवृत्त होकर नए चुने जाएँगे। सभा के स्पीकर एवं डिप्टी स्पीकर सभा के सदस्यों में से चुने जाएँगे। सभा द्वारा पारित विधान राजा की स्वीकृति के बाद कानून बनेगा। राजा सदस्यों में से

एक प्रधानमंत्री और दो मंत्री चुनेगा। राजा राज्य का प्रथम सेवक होगा।

यह व्यवस्था जनवरी 21, 1939 को ओंध की विधात्री सभा द्वारा पारित होकर लागू हुई। राजकुमार अप्पा पंत ने प्रधानमंत्री पद स्वीकार किया। उनके नेतृत्व में ओंध गांधीजी के सपनों का पहला संवैधानिक राज्य बना जो सच्चे लोकतंत्र के सफल प्रयोग के रूप में 9 वर्षों तक संसार को उद्बोधित करता रहा।

गांधीजी राजनीति-विज्ञान के विद्वान् नहीं थे, अपितु समाज वैज्ञानिक थे। उनके अनुसार संवैधानिक अधिकार एवं कर्तव्य, राजसत्ता और जनतंत्र ये सभी व्यक्ति एवं उसके माध्यम से समाज से जुड़े हैं। जबकि पाश्चात्य राज्यदर्शन में ये सभी विषय राज्य एवं नागरिक से संबद्ध हैं। उनके अनुसार, “हम यह मानते रहे हैं कि सत्ता विधान परिषद् से आती है, जो कि बिल्कुल गलत है। सच यह है कि सत्ता जनता में निहित होती है। इसी सीधे-सादे सत्य को पिछले इक्कीस वर्षों से समझाने का प्रयास कर रहा हूँ।”

इस मुख्य भेद के साथ यह भी ध्यातव्य है कि गांधीजी के विचार में व्यक्ति एवं समाज का संबंध भौतिक स्तर तक सीमित नहीं है। वह संबंध नैतिकता एवं परस्पर सापेक्षता के आधार पर दृढ़भूमि को प्राप्त करता है। यही भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का अनुभूत तथ्य है। उनके शब्दों में—“मेरा यह कहना नहीं है कि हम शेष दुनिया से बचकर रहें या अपने आसपास दीवारें खड़ी कर लें। यह तो मेरे विचारों से बड़ी दूर भटक जाना है। लेकिन मैं यह जरूर कहता हूँ कि पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात् करें। दूसरी संस्कृतियों के सम्मान की, उनकी विशेषताओं को समझने और स्वीकार करने की बात उसके

शेष भाग पृष्ठ संख्या 12 पर

असमिया साहित्य के पुरस्कर्ता : श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा

[19वीं सदी के अंत में असम प्रदेश में बंगला भाषा का विपुल प्रभाव था। उसे समाप्त कर असमिया भाषा में साहित्य सृजन कर असमिया भाषा को साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित करने वाले श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा भारतीय साहित्य के अमिट हस्ताक्षर हैं। उन्होंने काव्य (कदमकली), नाटक साहित्य (बेलिमार, चक्रध्वज सिंह (1915), चिकरपति-निकरपति, जयमति कुंवरी (1915), लितिकाई, नोमल एवं पाचनि), कथा-साहित्य (जुनुका (1910), बुड़िआइर साधु, जोनबीरी, सुरभि (1909), पदुम कुंवरी, साधु-कथार कूकि तथा ककादेउता), निबन्ध-साहित्य तत्त्वकथा और भागवत-कथा (1915) के अतिरिक्त व्यंग्य-विनोद साहित्य सहित विपुल साहित्य की रचना की। बेजबरुवा देशभक्ति के कवि थे। वे असम के राष्ट्रीय गीत 'ओ मोर आपनर देश' के स्रष्टा थे। उनका साहित्य प्रामाणिक रूप से असमिया मानस एवं संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

—संपादक]

स्थूल तौर पर कहें तो जीवन अक्सर विचित्र और अपव्ययी होता है, बेजबरुवा का मूल्यांकन करते समय हमें यह तथ्य भूलना नहीं चाहिए। उच्च उदार स्वभाव, साहसमयी भावना और 'प्राधारभूत हित-चिन्तन'—ये सारे गुण उनकी रचनाओं में बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट हुए हैं। डिकिन्स की भाँति बेजबरुवा की भी हरेक बात द्रुत होती थी—दर्शन, श्रवण, भावन, अंग-चालन और लेखन सब। दूसरे शब्दों में, बेजबरुवा ने मानो कार्लाइल के 'सर्वग्रासी नेत्र और चित्र-दक्ष हाथ' तो प्राप्त कर लिए थे परन्तु न जाने क्यों, वे उनका 'रूपान्तरकारी स्पर्श' प्राप्त नहीं कर पाए। अपनी समस्त त्रुटियों और खूबियों के मेल से बेजबरुवा प्रकट ही पक्के और मंजे हुए लेखक थे जिनके तत्वावधान में भाषा गौरव के शिखर पर चढ़ी। मोटे शब्दों में, उनकी साहित्यिक चर्या 'जोनाकी' (1889) से प्रारंभ हुई। यह पत्रिका हमारे साहित्यिक पुनर्जागरण का दिशा-संकेत कही जा सकती है। उनका साहित्यिक जीवन अर्द्ध शताब्दी में व्याप्त था, वे 'वह्नि', 'ऊषा', 'आह्वान' आदि पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से लिखते थे।

बेजबरुवा जिस युग में साँस लेते और रचना करते थे वह ऐसा युग था जब असमिया समाज में स्वर और सामंजस्य का अभाव था। ब्रिटिश शासन

के पूर्ववर्ती वर्षों की घटनाएँ और असम में उसके प्रारंभिक संघटन के वर्षों की घटनाएँ हमारे सामाजिक ताने-बाने में अनेकों रूक्ष विभेदों और विरोधों को जन्म दे चुकी थीं। सूक्ष्म शब्दों में, बेजबरुवा असमिया जीवन की विविध भंगिमाओं से निबिड़ रूप में सम्बद्ध थे जिनका उन्होंने अपनी कृतियों में हल्की गहरी छटाओं से प्रतिबिम्बन किया है। उनकी प्रतिभा व्याख्यात्मक थी। फिर भी हम कह सकते हैं कि वस्तुओं को ऐसे कोणों से देखने की उनमें अनोखी क्षमता थी जो सरसरी दृष्टि में असन्तुलित प्रतीत होते हैं। संक्षेप में, बेजबरुवा में निरीक्षण की क्षमता थी। असमिया जीवन की विचित्रताओं का जो विद्रूप उन्होंने प्रस्तुत किया है वह अन्य कोई नहीं कर पाया। और फिर भी लोग उन्हें सह लेते थे। यही नहीं, उनकी भड़ैती भी सह ली जाती थी, क्योंकि उनके पाठक जानते थे कि वे कुछ भी क्यों न कहें, असमिया जनो के प्रति उनमें आधारभूत प्यार था।

प्रचलित धारणा के अनुसार यह मानना भूल होगी कि लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा अट्टहास के अलावा और कुछ न थे। बेजबरुवा के व्यक्तित्व को इस प्रकार किसी एक ही आयाम से बाँधकर नहीं देखा जा सकता। विक्टर ह्यूगो के—से अधिकार से असमिया के साहित्यिक परिदृश्य पर लगभग अर्द्ध शताब्दी

तक छाये रहने वाले इस व्यक्ति का समग्र व्यक्तित्व गहन प्रेरणा से पूर्ण था और उसमें सोद्देश्यता की विशिष्ट गंभीरता थी।

बेजबरुवा अपने समय की सन्तान थे, उनका समय प्रत्येक संक्रान्ति काल की भाँति विरोधी उद्देश्यों का समय था। ब्रिटिश शासन के संघात के अधीन नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण समाविष्ट हो रहे थे। निस्संदेह यह तर्क-संगत था, पर तर्काग्रह की प्रक्रिया में नई समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। समाज शनैः-शनैः अपनी प्राचीन टेकों से डिगता जा रहा था और इस प्रक्रिया में वह एक ऐसे बेमेल स्तूप में जा पहुँचा था जो न घर का था, न घाट का। यह बात नहीं है कि बेजबरुवा में सृजन-स्फूर्ति न थी। उन्होंने जिस प्रकार जगमगाते गद्य में असमिया जीवन की विविध भंगिमाओं को आत्मसात् और अभिव्यक्त किया वैसा अन्य कोई असमिया लेखक नहीं कर पाया।

लेखक के रूप में बेजबरुवा का उपकरण दुहरा था—(1) निरीक्षण और उसके द्वारा प्राप्त नर-नारियों का, सामाजिक दृष्टिकोणों और रीतियों का, पूर्वी असम,

विशेषतया शिवसागर और उत्तरी लखीमपुर के उनके अपने परिवेश में उपलब्ध धारणाओं और विनोद वृत्ति का अनुभव—(2) उनके निज अनुभव, मानवीय और बौद्धिक, जो घर से बहुत दूर, विशेषतः कलकत्ता और सम्बलपुर में बैठकर परिष्कृत और रूपान्तरित किये गए। अपने घर से इतनी दूर रहने के कारण वे मुक्त भाव से नितान्त तटस्थ और निरपेक्ष रूप में वस्तुओं का आकलन कर सके। उन्होंने जो कुछ देखा और जाना था वह उनकी स्मृति में सुरक्षित बना रहा और उन्होंने उसे परवर्ती वर्षों में व्यंग्य और विनोद से पूर्ण गह्वरों में चित्रों में गम्भीरता और वैदग्ध्य से अभिव्यक्त किया। वस्तुओं को उनके सत्य रूप में देखने का आग्रह, और उसी के अनुषंग रूप में, एक पारदर्शी शैली, निरीक्षणप्रिय मानवीयता और व्यापक दृष्टिकोण— इन सबसे मिलकर ही बेजबरुवा की साहित्यिक कृतियों का अद्वितीय सौन्दर्य निर्मित हुआ है।

साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित पुस्तक से साभार

□

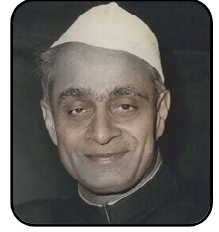
पृष्ठ संख्या 10 का शेष भाग

बाद ही आ सकती है, उसके पहले कभी नहीं। मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि हमारी संस्कृति में जैसी मूल्यवान निधियाँ हैं, वैसी किसी दूसरी संस्कृति में नहीं हैं। हमने उसे पहचाना नहीं है। हमें उसके अध्ययन का तिरस्कार करना, उसके गुणों की कम कीमत करना सिखाया गया है। मेरा धर्म मुझे आदेश देता है कि मैं अपनी संस्कृति को सीखूँ, ग्रहण करूँ और उसके अनुसार चलूँ, अन्यथा अपनी संस्कृति से विच्छिन्न होकर हम एक समाज के रूप में मानो आत्महत्या कर लेंगे।”

जिन विशेषज्ञों ने भारतीय संविधान का निर्धारण किया, उन्होंने दुर्भाग्यवश प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक संस्थाओं की ओर ध्यान नहीं दिया। सभी विशेषज्ञ

अंग्रेजी शिक्षा में दीक्षित संभ्रांत वर्ग के थे, जो पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्था के कायल थे। उनमें से कुछ का तो स्वतंत्रता आंदोलन से कोई जुड़ाव न था। कुछ ऐसे प्रगतिशील बुद्धिजीवी थे, जो राष्ट्रवादी तो थे, मगर आजादी की लड़ाई में शरीक भी नहीं हुए थे और ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था के भक्त थे। और जो बाकी बचे, उनमें अधिकांश ने आजादी की लड़ाई में गांधीजी का नेतृत्व तो स्वीकारा था, किंतु उनकी दृष्टि के नवभारत के निर्माण को मन से कभी भी स्वीकारा नहीं था। इसलिए जो संविधान बना, उसमें गांधी के सपनों के आजाद भारत का, भारतीय संस्कृति एवं परंपराओं की दृढ़भूमि पर अग्रसर भारत का निर्माण न हो सका।

□



पद्मश्री आपा बी. पंत ओंध (महाराष्ट्र) रियासत के राजकुमार थे। शाही परिवार से सम्बद्ध होने के बावजूद उन्होंने गांधीविचार के अनुसार जनकल्याण और कूटनीति को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उनके पिताश्री भगवानराव पंत ने महात्मा गांधी की प्रेरणा से अपने राज्य में ग्राम-स्वराज्य और सत्ता के विकेन्द्रीकरण की दिशा में अहम पहल की। उन्होंने अपने बेटे श्री आपा बी. पंत को प्रधानमंत्री बनाकर ग्राम-स्वशासन की पंचायत-राज की व्यवस्था को सन् 1939 से 9 साल तक संचालित किया।

श्री आपा बी. पंत ने आजादी से पहले दुनिया के सामने ग्राम स्तर पर जनता को शासन की वास्तविक जिम्मेदारी देकर लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के व्यावहारिक स्वरूप को दर्शाया। जिसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—

- **ग्राम स्वशासन** : गाँवों को स्थानीय मामलों के संचालन में अधिक अधिकार और जिम्मेदारी दी गई।
- **विकेन्द्रीकरण** : शासन की शक्ति को केवल राज्य या उच्च अधिकारियों तक सीमित न रखकर जमीनी स्तर तक पहुँचाने का प्रयास किया गया।
- **सहकारिता और सामुदायिक कार्य** : गाँव के विकास के लिए सामूहिक प्रयासों पर जोर दिया गया।
- **लोकतान्त्रिक प्रशिक्षण** : ग्रामीणों को निर्णय लेने और स्थानीय संस्थाओं के संचालन का व्यावहारिक अनुभव मिला।

श्री आपा पंत ने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय विदेश सेवा स्वीकार की और कई देशों में भारतीय राजदूत रहे। इण्डोनेशिया, नार्वे, मिश्र, यू.के., इटली

और अफ्रिकन देश उनमें प्रमुख हैं। आपा पंत अच्छे लेखक भी थे। अपने अनुभवों के आधार पर उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखीं।

पू. श्री काकासाहेब के साथ उनका दीर्घकालीन सघन सम्पर्क रहा। ओंध में उनके नेतृत्व में गांधी-विचार के ग्राम-स्वराज के प्रयोगों के समय काकासाहेब का मार्गदर्शन उन्हें सतत मिलता रहा तथा बाद में जब काकासाहेब भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के प्रधान के नाते विदेशों में प्रवास करते थे। उस समय भी काकासाहेब के साथ उनकी लम्बी चर्चाएँ चलती थीं। जिससे विदेशों में बसे प्रवासी भारतीयों और विदेशियों के बीच भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में भारतीय दूतावास अकादमिक मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। श्री आपा पंतश्री के शब्दों में—

श्री काकासाहेब और मेरे पिताजी—राजा भगवानराव पंत, ओंध के राजासाहेब—का परिचय बहुत पुराना था। किन्तु अपने राज्य के नये संविधान के विषय में महात्माजी का परामर्श लेने मेरे पिताजी सेवाग्राम गये, तब मैं काकासाहेब से प्रथम बार मिला। प्राचीन राजा-महाराजाओं की पुनीत परम्परा के अनुसार मेरे पिताजी अपने राज्य का त्याग कर उसे प्रजा के नाम करके एक साक्षी, मार्गदर्शक और 'प्रथम सेवक' के नाते ही रहना चाहते थे।

सेवाग्राम के हमारे एक सप्ताह के निवास के दरमियान रोज सुबह राज्य के त्याग के तात्विक और आध्यात्मिक पहलुओं पर पिताजी और काकासाहेब की चर्चाएँ होती रहीं। इन सब बातों से काकासाहेब इतने प्रसन्न और पुलकित हो गये कि उसी क्षण से मुझे बेटे के समान अपना लिया। महात्माजी के साथ की मेरे पिताजी की हुई स्मरणीय भेंट के बाद जब-जब

सेवाग्राम गया, मैं हमेशा काकासाहेब का प्रेरणादायक और सच्चा परामर्श लेता रहा। खासकर 1942 की 'भारत छोड़ो' के भूमिगत आंदोलन के समय जब छोटा-सा आंध्र, सतारा और कोल्हापुर की 'प्रति सरकार' का केन्द्र बना हुआ था, उन दिनों जब नाना पाटिल, रत्नाप्पा कुंभार, वसंतराव पाटिल जैसे नेता कई बार आंध्र के गाँवों में आश्रय लेते थे। तब काकासाहेब की सलाह ने और प्रबोधक मार्ग-दर्शन ने हमारे आंदोलन को प्रयोजनों के उचित संदर्भ में प्रस्तुत किया।

विदेशों में स्वतंत्र भारत का प्रतिनिधि होकर जब मैं अफ्रीका गया, तब काकासाहेब ने पूर्व अफ्रीका, मध्य अफ्रीका और (उस समय के) कांगों की यात्रा की। लगभग छः महीने वह हमारे बीच रहे।

अफ्रीका में काम करने वाले हम सब के लिए कैसी तेजस्वी और प्रेरणात्मक थी वह कालावधि। इस 'सूर्योदय के देश' (कान्टीनेंट ऑफ डॉन-काकासाहेब इसी नाम से अफ्रीका का उल्लेख करते रहे) और भारत के बीच मैत्री उत्पन्न करने के काम को काकासाहेब ने नया ही आयाम दिया।

मनुष्य-मनुष्य के बीच स्नेह-सम्बन्ध का विकास करने में धर्म, वंश, संस्कृति या जाति के भेद उनके लिए कभी बाधक नहीं हुए हैं। उनके लिए विविध रंग मिलकर जीवन का एक अधिक सुरंगी और सन्तोषजनक चित्र उत्पन्न करते हैं। अपनी विविध सभाओं में-अंग्रेज, अफ्रीकी, भारतीय और अरबी श्रोतागणों के सामने काकासाहेब इस विषय का अत्यन्त सौन्दर्य के साथ और हृदय को छू जाने वाली भाषा में अपने विचारों का विकास करते रहे। वह मराठी में, गुजराती में, हिन्दी और अंग्रेजी में बोलते थे। वह एक कवि की तरह बोलते थे-एक माता के वात्सल्य से बोलते थे। हँसते-समझाते प्रेरणा देते। सौम्यभाषी, ताजे विचार, चित्रों को दर्शाते-जो सुननेवाले को स्पर्धा, हानि-लाभ, सत्ता-संघर्ष और दुर्दशा की दुनिया से कहीं दूर उड़ा ले जाते।

अफ्रीका में बसनेवाले भारतीयों ने काकासाहेब की स्पष्ट दृष्टि के द्वारा प्रथम बार अनुभव किया कि

अफ्रीकी मनुष्य के हृदय में भी सौन्दर्य और स्नेह बसते हैं। तब तक अधिकतर भारतीयों के लिए अफ्रीकी मात्र एक नौकर ही था, बर्तन माँजनेवाला और जूते साफ करने वाला, जिसके साथ चिल्लाकर ही बात की जा सकती थी और जो मानो अभी-अभी पेड़ से उतरकर आया हो! काकासाहेब के प्रवचनों से इस दृष्टि में धीरे-धीरे किन्तु निश्चित सुधार आने लगा। जिस तरह से अफ्रीकी लोग जोमो कैन्याटा, न्येरेरे, म्बोया जैसे नेता से लेकर साधारण अशिक्षित नौकरों तक काकासाहेब के प्रवचनों को मंत्र-मुग्ध होकर सुनते थे।

भारतीय और अफ्रीकी लोग काकासाहेब से पूर्ण प्रभावित हो जायें, यह समझा जा सकता है, किन्तु यूरोपीय लोग भी, जो विजेता थे, शासक थे, वे पहले तो अनिच्छा से, किन्तु बाद में अपनत्व में और आनन्द-उत्साह के साथ उनकी सभा में आते रहे। सब-के-सब सर बांकले (पूर्व अफ्रीका के सुप्रीम कोर्ट के अध्यक्ष) से लेकर नाकुरु, या किसुमु के छोटे से किसान व्यापारी तक आने लगे और अपने घरों में काकासाहेब को आमंत्रित करके अपने मित्रों के साथ उनके ज्ञान का रसास्वादन करने को उत्सुक थे। काकासाहेब सबके यहाँ जाते उनके साथ कविता की, कला की, संगीत की, जीवन की और सौन्दर्य की बातें करते। उनका उद्देश्य भारतीय संस्कृति का प्रचार करना ही नहीं था। वह तो मानवीय संस्कृति के पोषक थे। विश्वभर के युगों की समस्त संस्कृति उनकी विरासत थी। ऐसी विशाल दृष्टि का विरोध कौन कर सकता है, विशेषकर जब इतने सादे और ज्वलन्त शब्दों में समझाया जाये। 1950 में भारत-अफ्रीका के सम्बन्धों का श्रीगणेश हो ही रहा था। किसी और से अधिक काकासाहेब ने ही इस विकास-काल को नया और मार्मिक आयात दिया।

उनके प्रति मेरा निजी ऋण अतुलनीय है, क्योंकि उनकी दो हुई आधार-शिला पर काम करना मेरे लिए बहुत आसान हुआ। (समन्वय के साधक, पृ. 51-52)

प्रस्तुति-प्रो. रमेश भारद्वाज, सहयोग रंजना

□

शिक्षा में मनुष्यता के खोजी काकासाहेब कालेलकर

प्रो. (डॉ.) अजितसिंह राणा

आज के तेज गति और तकनीक-संचालित आधुनिक युग में, जब डिग्रियों, अंकतालिकाओं, करियर पैकेज और प्रतियोगिता का शोर हमारे चारों ओर व्याप्त है, तब दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर, जिन्हें पूरा देश स्नेहपूर्वक 'काकासाहेब' के नाम से जानता है, उनका जीवन और उनका गहन चिंतन हमें एक अद्भुत आंतरिक शांति, आत्ममंथन और गंभीर दिशा प्रदान करता है। काकासाहेब केवल लेखक, चिंतक या शिक्षक नहीं थे; वे शब्दों और अक्षरों के माध्यम से मानव जीवन की अंतरात्मा को स्पर्श करने वाले संत-हृदय दृष्टा और मनीषी थे। 1 दिसंबर 1885 को महाराष्ट्र के सतारा में जन्मे और 21 अगस्त 1981 को इस संसार से विदा हुए काकासाहेब आज इतने वर्षों बाद भी प्रासंगिक और जीवंत दिखाई देते हैं, क्योंकि उनका चिंतन समय की सीमाओं को पार करके सीधे मानवता की मूल चेतना से जुड़ा है।

काकासाहेब का संपूर्ण जीवन और विचार-यात्रा इस बात का साक्ष्य है कि शिक्षा का अंतिम उद्देश्य केवल नौकरी, करियर या डिग्री प्राप्त करना नहीं है, बल्कि एक सर्वांगीण, स्वतंत्र, नैतिक और संवेदनशील मनुष्य का निर्माण करना है। जब देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था और अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति को लेकर राष्ट्रीय चिंतकों में गहरा असंतोष था, तब काकासाहेब ने महात्मा गांधी के साथ मिलकर देश की शैक्षिक चेतना को जागृत करने का ऐतिहासिक कार्य किया। विशेष रूप से 1937 में गांधीजी की प्रेरणा से गठित 'नई तालीम' अर्थात् बुनियादी शिक्षा समिति में उनकी सक्रिय भूमिका केवल एक समिति के सदस्य तक सीमित नहीं थी। उनका मूल दृष्टिकोण था कि शिक्षा और जीवन के बीच खड़ी कृत्रिम दीवार को हमेशा के लिए समाप्त किया जाना चाहिए।

बच्चा विद्यालय के कक्ष में या पुस्तक में जो पढ़ता है, वह उसके वास्तविक जीवन, व्यवहार और विचार का सहज हिस्सा बनना चाहिए।

आज हम कक्षाओं और शैक्षिक नीतियों को आधुनिक बनाने के लिए 'लर्निंग बाय डूइंग', 'एक्सपीरिएंशियल लर्निंग' या 'श्रम की गरिमा' जैसे आकर्षक शब्दों का प्रयोग करते हैं, लेकिन काकासाहेब ने दशकों पहले अत्यंत सरल और जीवंत ढंग से समझाया था कि हाथों से किया गया प्रत्येक छोटा श्रमकार्य भी बुद्धि को एक विशिष्ट आंतरिक चमक और गंभीरता प्रदान करता है। जो ज्ञान समाज के वास्तविक जीवन से जुड़ नहीं पाता और जो अक्षरज्ञान मनुष्य को अपने हाथ के श्रम तथा समाज से विमुख कर देता है, वह शिक्षा मनुष्य का विकास नहीं करती, बल्कि उसे मानसिक बोझ के नीचे दबा देती है। **श्रम, बुद्धि और चरित्र का त्रिवेणी-संगम ही सच्ची शिक्षा है, यह उनका दृढ़ आग्रह था।**

काकासाहेब के व्यक्तित्व का सबसे मानवीय और अद्भुत पक्ष उनकी भाषाप्रेमी दृष्टि और व्यापक चिंतन में दिखाई देता है। वे मूलतः मराठीभाषी थे, फिर भी उन्होंने गुजराती भाषा को जिस असाधारण निष्ठा से अपनाया और उसमें इतना मौलिक, सरस और समृद्ध साहित्य रचा कि स्वयं महात्मा गांधी ने उन्हें 'सवाई गुजराती' की उपाधि दी। उनकी यात्रावृत्तांत-रचनाएँ, जैसे 'हालना दक्षिण अफ्रीकाना संस्मरणो' और 'हिमालयनो प्रवास', केवल भूगोल अथवा दर्शनीय स्थलों का सूखा वर्णन नहीं थीं; उनमें प्रकृति के साथ दिव्य संवाद और संस्कृति का साक्षात्कार था।

उनका दृढ़ विश्वास था कि मातृभाषा केवल दैनिक व्यवहार या संवाद का माध्यम नहीं है; वह बच्चे के आंतरिक सपनों, संवेदनाओं और कल्पनाओं की पवित्र

मातृभूमि है। जब कोई बच्चा अपनी मातृभाषा में स्वतंत्र रूप से सोचना सीखता है, तभी उसके चिंतन में मौलिकता और व्यक्तित्व में आत्मविश्वास विकसित होता है।

काकासाहेब के लिए यात्रा केवल एक स्थान से दूसरे स्थान तक होने वाला भौतिक भ्रमण नहीं था, बल्कि मानव चेतना के विकास और दृष्टि-विस्तार का एक श्रेष्ठ शैक्षिक माध्यम था। अपरिचित प्रदेशों, विभिन्न मानव समुदायों, भाषाओं और संस्कृतियों के बीच रहकर मनुष्य अपने संकीर्ण पूर्वाग्रहों, स्वार्थ और भेदभाव की दीवारों से बाहर निकलता है। काकासाहेब का यात्रा-दर्शन हमें सिखाता है कि सच्चा ज्ञान वही है जो मनुष्य को अपने छोटे-से 'मैं' के घेरे से बाहर निकालकर व्यापक मानव समाज और संपूर्ण सृष्टि से आत्मीयता के साथ जोड़ दे। यदि शिक्षा हमें दूसरे मनुष्य के दुःख और आँसुओं से जोड़ने में असफल रहती है, तो वह ज्ञान अधूरा और एकांगी ही रह जाता है।

आज के आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस, डिजिटल साधनों और कृत्रिम बुद्धिमत्ता के दौर में काकासाहेब का यह चिंतन एक दीपस्तंभ की तरह हमारा मार्गदर्शन करता है। आज कंप्यूटर और एल्गोरिथ्म किसी भी भाषा में क्षणभर में सामग्री तैयार कर सकते हैं, विशाल डेटा का विश्लेषण कर सकते हैं और जटिल गणनाएँ हल कर सकते हैं। भविष्य में तकनीक शिक्षा के अनेक पारंपरिक कार्यों को भी संभाल सकती है। लेकिन क्या ये मशीनें या एल्गोरिथ्म कभी मनुष्य की अंतरात्मा, संवेदनशीलता, करुणा, नैतिक विवेक और सामाजिक जिम्मेदारी का स्थान ले सकेंगे? शायद कभी नहीं। इसलिए आज के युग में भविष्य की शिक्षा की वास्तविक कसौटी यह नहीं होगी कि हम कितनी तकनीक का उपयोग करते हैं, बल्कि यह होगी कि तकनीक की इस असीम दौड़ के बीच हमारे भीतर मनुष्यता और संवेदना कितनी सुरक्षित बची रहती है।

काकासाहेब ने बार-बार हमें सचेत किया कि यदि शिक्षा को केवल नौकरी या आर्थिक लाभ प्राप्त करने

का साधन बना दिया गया, तो हमें कुशल कारीगर और सफल विजेता तो मिल सकते हैं, लेकिन समाज को जिन सज्जन, विवेकी और जिम्मेदार नागरिकों तथा सहयात्रियों की सबसे अधिक आवश्यकता है, वे नहीं मिलेंगे। शिक्षा को व्यक्ति को केवल अपने स्वार्थ या 'करियर' के लिए तैयार करने के बजाय पूरे समाज के साथ प्रेमपूर्ण संबंध बनाकर जीने के लिए तैयार करना चाहिए। यदि शिक्षा व्यक्ति को प्रत्येक छोटे-बड़े प्रश्न के लिए बाहरी सहारे पर निर्भर रहने को मजबूर करती है, तो वह व्यक्ति कितनी भी डिग्रियाँ प्राप्त कर ले, आंतरिक रूप से परतंत्र ही रहता है।

इसीलिए काकासाहेब कालेलकर की विचारधारा हमें स्वावलंबन का एक गहरा और व्यापक अर्थ देती है। स्वावलंबन का अर्थ केवल अपने पैरों पर खड़े होकर आजीविका कमाना नहीं है। अपने विचारों और मूल्यों के लिए समाज के सामने दृढ़ता से खड़े रहना, अपने श्रम और योग्यता पर विश्वास रखना, विपरीत परिस्थितियों में विवेकपूर्ण निर्णय लेना और अपने जीवन के प्रत्येक कार्य की नैतिक जिम्मेदारी स्वीकार करना, यह आंतरिक स्वावलंबन ही सच्ची शिक्षा की पहचान है। उन्होंने परंपरा और आधुनिकता के बीच सुंदर संतुलन का मार्ग दिखाया। हमें अपनी परंपरा की जड़ों से पोषण प्राप्त करते हुए आधुनिकता के खुले आकाश में उड़ना है; अपनी जड़ों को काटकर किसी दूसरे समाज के अंधानुकरण में बह जाना नहीं है।

21 अगस्त को उनके पुण्यस्मरण के अवसर पर काकासाहेब को हमारी सच्ची और हृदयपूर्ण श्रद्धांजलि तभी मानी जाएगी, जब हम उनके मानव-केंद्रित विचारों को केवल सभाओं और पुस्तकों तक सीमित न रखकर अपने घरों और कक्षाओं तक ले जाएँ। हमें बच्चों को उनके अपने अनुभवों से सीखने देना होगा, उनकी कल्पनाओं की दुनिया को सुनना होगा, मातृभाषा में सोचने की उन्हें पूरी स्वतंत्रता देनी होगी और उनकी सफलता का मूल्यांकन केवल अंकतालिका के अंकों या डिग्रियों से करना बंद करना होगा। शिक्षा किसी

एक विषय के पाठ्यक्रम का अध्ययन मात्र नहीं है; वह संपूर्ण मनुष्य के निर्माण की एक पवित्र जीवन-दिशा है।

काकासाहेब का आंतरिक संदेश हमें एक मूलभूत प्रश्न के सामने खड़ा करता है, हमने अपने बच्चों को 'कितना पढ़ाया' से अधिक महत्वपूर्ण यह है कि हमने कैसा 'मनुष्य' बनाया? सच्ची शिक्षा केवल जानकारी या सूचनाओं से भरा हुआ व्यक्ति बनाने में नहीं, बल्कि ज्ञान को विवेकपूर्वक जीवन में उतार सकने वाले सज्जन और नैतिक मनुष्य के निर्माण में है। काकासाहेब की यह अमर चिंतन-यात्रा आज भी प्रत्येक शिक्षक, अभिभावक और शिक्षाविद् के अंतर्मन में आशा का एक नया दीप प्रज्वलित करती है।

अंत में यह उल्लेखनीय है कि 1920 में महात्मा गांधी द्वारा स्थापित, गांधीवादी मूल्यों, सादगी और स्वावलंबन की जीवंत परंपरा वाली गुजरात विद्यापीठ को अपनी समर्पित सेवाओं से आकार देने में काकासाहेब कालेलकर का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा। गुजरात विद्यापीठ का वर्तमान पुस्तकालय गुजरात

की अमूल्य धरोहर है। एक समय सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व वाले अहमदाबाद कॉरपोरेशन को सौंप दिए गए इस पुस्तकालय को वापस लाने का श्रेय भी काकासाहेब को जाता है। विद्यापीठ के परिसर में उन्होंने राष्ट्रप्रेम और भाषाप्रेम के जो बीज रोपे, वे आज भी युवाओं में देशसेवा और साहित्य की चेतना जगाते हैं।

काकासाहेब के विचारों को आज फिर पढ़ने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि वे केवल अतीत के किसी महान शिक्षाविद् की स्मृति हैं, बल्कि इसलिए है कि उन्होंने शिक्षा के उस प्रश्न को छुआ था जो समय बदलने पर भी नहीं बदलता, शिक्षा हमें अधिक सक्षम तो बना रही है, लेकिन क्या वह हमें मनुष्य भी बना रही है?

—प्रोफेसर एवं निदेशक, शिक्षा संकाय,
डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर मुक्त विश्वविद्यालय,
अहमदाबाद, गुजरात
prof.rana@yahoo.com

□

पृष्ठ संख्या 03 का शेष भाग

अगरचे इस तस्वीर को पूरी तरह बनाना या पाना मुमकिन नहीं है, तो भी इस सही तस्वीर को पाना या इस तक पहुँचना हिन्दुस्तान की जिन्दगी का मकसद होना चाहिये। जिस चीज को हम चाहते हैं; इसकी सही-सही तस्वीर हमारे सामने होनी चाहिये। तभी हम उससे मिलती-जुलती कोई चीज पाने की उम्मीद रख सकते हैं। अगर हिन्दुस्तान के हरएक गाँव में कभी पंचायती राज कायम हुआ, तो मैं अपनी इस तस्वीर की सच्चाई साबित कर सकूँगा, जिसमें सबसे पहला और सबसे आखिरी दोनों बराबर होंगे या यों कहिये कि न कोई पहला होगा, न आखिरी।

इस तस्वीर में हरएक धर्म की अपनी पूरी और बराबरी की जगह होगी। हम सब एक ही आलीशान पेड़ के पत्ते हैं। इस पेड़ की जड़ हिलाई नहीं जा सकती,

क्योंकि वह पाताल तक पहुँची हुई है। जबरदस्त से जबरदस्त आँधी भी उसे हिला नहीं सकती।

इस तस्वीर में उन मशीनों के लिये कोई जगह न होगी, जो इन्सान की मेहनत की जगह लेकर चन्द लोगों के हाथों में सारी ताकत इकट्ठा कर देती हैं। सुधरे हुए लोगों की दुनिया में मेहनत की अपनी अनोखी जगह है। उसमें ऐसी मशीनों की गुंजाइश होगी, जो हर आदमी को उसके काम में मदद पहुँचायें। लेकिन मुझे कबूल करना चाहिये कि मैंने कभी बैठकर यह सोचा नहीं कि इस तरह की मशीन कैसी हो सकती है। सिलाई की सिंगर मशीन का ख्याल मुझे आया था। लेकिन उसका जिक्र भी मैंने यों ही कर दिया था। अपनी इस तस्वीर को पूर्ण बनाने के लिये मुझे उसकी जरूरत नहीं।

हरिजनसेवक, 28-7-'46

□

पंचायती राज के क्रियान्वयन में – एसोसियेशन ऑफ वालंटरी एजेन्सीज फॉर रूरल डेवलपमेंट (अवार्ड), नई दिल्ली की भूमिका

डॉ. बी. मिश्रा*

प्राचीन काल से पंचायतें भारतीय सामाजिक जीवन पद्धति का अभिन्न अंग रही हैं। भारत सरकार द्वारा पंचायती राज पद्धति का विधिवत उद्घाटन पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा 02 अक्टूबर 1959 में राजस्थान के नागौर जिले में होने के पूर्व भी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में पाँच गणमान्य व्यक्तियों की पंचायतें थी जो स्थानीय विवादों को निपटाने का कार्य करती थी। इसके अलावा विभिन्न जाति समूहों की अपनी पंचायतें होती थी जैसे हरियाणा एवं पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाटों की खाप पंचायत, जनजातियों की अपनी-अपनी पंचायतें आदि। ये पंचायतें कितनी सशक्त होती थी इसका अंदाजा हमें मुंशी प्रेमचंद की कहानी 'पंच परमेश्वर' से हो जाता है।

सन् 1992 में 73वें संविधान संशोधन के बाद त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था का कानून बना जिसे 24 अप्रैल 1993 से लागू किया गया। इसी प्रकार आदिवासी क्षेत्रों के लिए सन् 1996 में "अनुसूचित क्षेत्रों तक पंचायतों का विस्तार अधिनियम 1996" पारित किया गया।

भारत के अधिकांश भू-भाग पर 73वें संविधान संशोधन के प्रावधानों के अनुसार त्रि-स्तरीय पंचायतें—ग्राम पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला पंचायत कार्यरत है। चूँकि 73वें संविधान संशोधन अधिनियम में महिलाओं के लिए एक-तिहाई एवं अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए उनकी जनसंख्या के अनुपात में सभी स्तरों एवं पदों पर आरक्षण का प्रावधान है। तथा इन्हें 29 कार्य सौंपे गये हैं।

इनकी सम्यक् जानकारी सभी को हो इसे ध्यान में रखते हुए अवार्ड द्वारा पंचायतों से सम्बंधित विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये गये।

फोर्ड फाउन्डेशन के सहयोग से भारत के पांच राज्यों— बिहार, उ.प्र., मध्य प्रदेश, उड़ीसा एवं राजस्थान में 20- 20 ग्राम पंचायतों एवं उतनी ही संख्या में स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं को साथ लेकर पंचायतों के माध्यम से खाद्य-आत्मनिर्भरता कार्यक्रम चलाया गया जिसके द्वारा पुनर्गठित पंचायती राज व्यवस्था के विभिन्न प्रावधानों के बारे में प्रशिक्षण के साथ-साथ खाद्य-आत्मनिर्भरता के लिए योजना बनाने एवं उसे क्रियान्वित करने की व्यवस्था पर विस्तार से चर्चा की गयी।

इसके बाद उ.प्र. की 30 ग्राम पंचायतों एवं संस्थाओं के साथ मिलकर पंचायती राज के विभिन्न प्रावधानों पर विस्तार से प्रशिक्षण प्रदान किया गया।

इसी प्रकार प. बंगाल, उड़ीसा एवं बिहार में पंचायतों के माध्यम से नारी सशक्तिकरण का कार्यक्रम ऑक्सफाम अमेरिका की सहायता से क्रियान्वित किया गया।

(अवार्ड स्वयंसेवी संस्थाओं का एक राष्ट्र-स्तरीय शीर्ष संगठन है जिसके संस्थापक अध्यक्ष स्वयं भारतरत्न लोकनायक जयप्रकाश नारायण 1960 से 1979 तक रहे। तथा उनके विचारानुसार पंचायती राज ही भारतीय राजनीति का आधार होना चाहिये।)

—*अध्यक्ष, अवार्ड,
नई दिल्ली-110002

□

26 फरवरी, 1953 को राज्यसभा में दिए भाषण के संपादित अंश

देश का भाषायी सर्वेक्षण भी होना चाहिए

काका कालेलकर (1885-1981)

अध्यक्ष महोदय, इस प्रस्ताव (साहित्य की स्थिति की जांच के लिए आयोग) में जो सबसे पहली बात बताई गई है कि 'लेखकों को आर्थिक रूप से मदद करना, ताकि उन्हें साहित्यिक कार्यों के लिए अवकाश मिल सके और अपनी रचनाओं को प्रकाशित करने तथा उचित लाभ के लिए बेचने में उन्हें सक्षम बनाया जा सके', यह मुझे ठीक नहीं लगती। साहित्यकार का कर्तव्य होता है कि वह अपने विचार पूर्ण स्वतंत्रता से प्रकट करके जनता को रास्ता दिखाए और नए क्षेत्र में ज्ञान वृद्धि करे। अगर इस काम में हम सरकार की मदद लेने लगे, तो साहित्यकारों की स्वतंत्रता नष्ट हो जाएगी और उनकी प्रतिष्ठा भी कम होगी। सरकार चाहे कितनी अच्छी क्यों न हो, वह किसी न किसी पार्टी की सरकार होगी। उसमें पार्टी का आग्रह आ ही जाता है। मदद, लेने से लेखक अगर दब गया, तो उसका तेज नहीं रहेगा। वह अपने, विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट भी नहीं कर सकेगा। हाँ, इतना अवश्य होना चाहिए कि यदि किसी साहित्यकार ने जीवन भर साहित्य सेवा की और, बुढ़ापे में उसकी स्थिति खराब रही, तो समाज या सरकार की ओर से उसे कुछ न कुछ पेंशन मिलनी चाहिए।

दूसरी बात मुझे कॉपीराइट ऐक्ट के बारे में कहनी है। हमारा कॉपीराइट ऐक्ट बहुत पुराना हो गया है और वह अन्य देशों के कॉपीराइट ऐक्ट के साथ बंधा हुआ है। इसे तब्दील करना आसान नहीं है, फिर भी हम इतना तो कर सकते हैं कि प्रकाशक और लेखक के बीच झगड़ा न रहे। लेखक की रॉयल्टी और प्रकाशक का मुनाफा, दोनों के बारे में हम नियम बना सकते हैं। इसके साथ हमें यह भी करना चाहिए कि लेखक की मृत्यु के पश्चात कॉपीराइट 50 साल तक कायम

रहे। उसके बाद वह चीज समाज की होनी चाहिए। हमें ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य द्वारा लेखक, प्रकाशक और समाज, तीनों का एक-सा हित हो। कोई भी भाषा, चाहे जितनी छोटी हो, और उसका साहित्य न के बराबर हो, तो भी वह उसे बोलने वालों की माँ होती है। उनके बाल-बच्चों को प्राथमिक शिक्षा उसी भाषा में मिलनी चाहिए।

सरकार से मेरा अनुरोध है कि अच्छी से अच्छी पाठ्य पुस्तकें सरकार की ओर से तैयार की जायें। इससे जनता और विद्यार्थियों को लूटने का धंधा बहुत कम हो जाएगा। साथ ही भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के बारे में मामूली जानकारी भी दूसरे प्रांतों में नहीं रहती है। प्रांतीय भाषाओं का कैसा और कितना विकास हुआ है, कहाँ कौन, क्या कर रहा है, इसकी जानकारी सारे देश को होनी चाहिए। यह काम सरकार का है। समय-समय पर रिपोर्ट तैयार करवाकर बतलाना चाहिए कि कहाँ-कहाँ, किस-किस विषय में कौन-सा साहित्य तैयार हुआ है, और हो रहा है।

देश की देसी भाषाओं में संदर्भ ग्रंथ का अभाव होने से साहित्यिक प्रगति और जनता के ज्ञान का विकास, दोनों रुक गए हैं। देसी ज्ञानकोश की बड़ी आवश्यकता है। उसे तैयार करवाकर सस्ते में देना सरकार का कर्तव्य है। देश का भाषायी सर्वेक्षण भी होना चाहिए। इस बारे में जो भी काम हुआ, अंग्रेजों के जमाने में हुआ था और वह त्रुटिपूर्ण है। अद्यतन भाषायी सर्वेक्षण न होने के कारण भी देश का नुकसान हो रहा है। यह सारा काम करने के लिए केवल साहित्यकारों को नहीं लगाना चाहिए। जो देश हितैषी हैं और समाज सेवक हैं, ऐसे लोगों से यह काम लेना चाहिए।

-दैनिक अमर उजाला से साभार □